PERSPECTIVES

Janki Devi Mahavidyalaya
University of Delhi

कृष्णा सोबती का मित्रो मरजानी

रेखा कपूर

हिंदी साहित्य की विभिन्न कृतियों में नारी की विविध छवियां उभरी हैं । कहीं वह मां, बहन, भाभी है, कहीं वह केवल श्रद्धा है, कहीं आधुनिका । वस्तुतः नारी के ये विभिन्न रूप नारी जीवन के विभिन्न चौखटे हैं, अलग-अलग फ्रेम और इन सब ढांचों में किसी भी तरह ढलने की कोशिश करती, इन्हीं में अपने जीवन की सार्थकता तलाशती नारी केवल पत्थर से तराशी मूर्ति का रूप ग्रहण करती जाती है । मांस-मज्जा और लहू से बनी उसकी तस्वीर जैसे पीछे छूट जाती है । नारी जीवन के इन त्यागमय और महिमामंडित रूपों के बीच नारी की एक छवि वह भी है जो जीवन को उसकी संपूर्णता में जीना चाहती है, जहाँ वह अपने होने का अर्थ तलाशती है और इस तरह समाज की स्थिर परंपराओं, मर्यादाओं एवं नैतिकताओं में एक विस्फोट पैदा करती है । कृष्णा सोबती का 'मित्रो मरजानी' इसी दृष्टि से चर्चित रहा है ।

कृष्णा सोबती के रचनाशील व्यक्तित्व में अवज्ञा का स्वर प्रमुख है । समाज की परंपरागत रुढ़ियों या परंपराओं की जकड़बंदी को उन्होंने कभी भी स्वीकार नहीं किया । ज़िन्दगी में गहरे पैठकर, किसी भी अनुभव को अपने तईं जीकर, जीवन के एक भिन्न पक्ष से साक्षात्कार करने की बेचैनी ही उनकी कृतियों के केन्द्र में है । परंपरागत मान्यताओं के प्रति अस्वीकार और विद्रोह उनकी कृतियों की पहचान है लेकिन यह विद्रोह कहीं भी निषेधात्मक नहीं होता बल्कि यहां स्थिति को पलटकर देखने और उसके नये रूप को उद्‌घाटित कर देने की कोशिश बराबर बनी रहती है । 'मित्रो मरजानी' में भी यही प्रयास मुखर है ।

'मित्रो मरजानी' व्यक्तिगत जीवन और परंपरा की टकराहट से खुलने वाले सामाजिक अंतर्विरोधों को प्रत्यक्ष करने वाली कृति है । 'परिवार' और 'देह' यह संस्कार के दो भिन्न धरातल हैं । 'मित्रो मरजानी' की मूल संवेदना इन दो संस्कारों की टकराहट से ही निःसृत है । यहां भारतीय परिवार का जीवंत चित्र है जिसमें धनवंती जैसी आदर्श मां है, जनको जैसी बेटी है, सुहाग और फूलावंती जैसी बहुएं है । इन चरित्रों और परिवेश के ताने-बाने से बुनी कथा के केन्द्र में है मित्रो का व्यक्तित्व, वो मित्रो जो गृहस्थी को लच्छमन की लीक नहीं मानती; जो परिवार के अनुबंधों को स्वीकार नहीं करती; जिसके तन ऐसी हौंस व्यापती है कि जो पारिवारिक मर्यादाओं के विपरीत पड़ती है ।

मित्रो के संस्कार जहाँ उसका शरीर ही सबसे बड़ा सत्य है, उस पारिवारिक परिवेश में एक टकराहट और शोर पैदा करते हैं । मित्रो शरीर को महत्व देती है, संबंध को नहीं । उसके लिए स्त्री पुरुष का संबंध नर-मादा का संबंध है । पुरुष मात्र पुरुष है, पति, भाई, जेठ या पिता नहीं, तभी वह कहती है-------

"बुरे माथे वाले । मर्द जन होते तो या चटखारे ले-ले मुझे चाटते या फिर शेर की तरह कच्चा चबा डालते ।" [1]

मित्रो अपने शारीरिक सौंदर्य पर स्वयं तो रीझती ही है और साथ ही यह भी चाहती है कि और लोग भी उसके इस भाव को स्वीकारें । उसका पति सरदारी उसकी यह प्यास नहीं समझता । इसलिए

मित्रो अपने जेठ बनवारी से ही यह अपेक्षा करने लगती है -------

"अनोखी रीत इस देह-तन की । बूंद पड़े तो थोड़ी, न पड़े तो थोड़ी । आज भडवा बनवारी ही जो बनाव-सिंगार देखता ।"[2]

एक भारतीय परिवार की बहू का अपने जेठ के प्रति ऐसा भाव उसके चरित्र पर प्रश्नचिन्ह लगाने के लिए काफी है । इसीलिए वह उस संयुक्त परिवार में 'मिसफिट' हो जाती है । इस दृष्टि से डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी का मत महत्वपूर्ण है --------

"मित्रो इस कहानी में संयुक्त परिवार की भीरु आत्मतुष्ट दुनिया के सिर पर पड़नेवाली डंडे की चोट है ।"[3]

वस्तुतः यह मोहभंग है उस भारतीय परंपरा से जहाँ विवाह दो शरीरों का संयोग नहीं, दो आत्माओं का पवित्र बंधन माना जाता है लेकिन मित्रो की शारीरिक चेतना इन परंपराओं ओर नैतिकताओं के आवरण को चीरती हुई ऐसे प्रश्न उपस्थित कर देती है जो महत्वपूर्ण होते हुए भी अनुत्तरित हैं ---------

"जिन्द-जान का यह कैसा व्यापार ? अपने लड़के बीज डालें तो पुण्य, दूजे डालें तो कुकर्म ।"[4]

मित्रो के इन प्रश्नों से हज़ारों आदर्शों और मर्यादाओं की ओट में छिपे हमारे सामाजिक अंतर्विरोध उधड़कर सामने आ जाते है ।

लेकिन मित्रो के इस पूरे आचरण में कहीं भी पाप-बोध या कुंठा का भाव नहीं है, क्योंकि उसने पारिवारिकता का सही रूप जाना ही नहीं । मित्रो जिस परिवेश से आई वहां मां बालो केवल उसकी मां ही नहीं कारोबारन है, जिसके यहां संबंध नहीं बनते केवल देह की भाषा ही समझी और समझायी जाती है ।

उसी तरह मित्रो भी अपनी पहचान अपने शरीर से जोड़कर करती है । उसके लिए उसका शरीर उसकी पहचान भी है, अभिव्यक्ति भी । समस्त पारिवारिक मर्यादाओं को परे रख उसमें अपनी बात खुलकर कहने की शक्ति भी है । लेखिका के शब्दों में ---------

"मित्रो की देह की आदिम अगन किसी भी अपराध बोध से परे है । वह सिर्फ परिवार की बहू, बेटी, भावज और सरदारी की पत्नी ही नहीं ---- वह कुछ और है ---- कुछ और भी । वह अपनी संज्ञा में ढूंढती है अपनी अस्मिता को । यह मैं हूं --------- मैं हूं न, मैं भी । परिवार के बीचोंबीच उसकी छटपटाहट एक शोर पैदा करती है । एक देह भाषा गढ़ती है ।"[5]

असल में, मित्रो के पास चीज़ों को तौलने-परख़ने की अपनी दृष्टि है । वह ज़िन्दगी को सही और ग़लत के खानों में बांटकर नहीं देखती बल्कि उसे वह जीवन की समग्रता में देखती है । इसीलिए जब सरदारी के आरोप लगाने पर मित्रो से पूछा जाता है कि वह सच है या झूठ, तब उसका उत्तर स्पष्ट है ----------

"सज्जनों । यह सच भी है और झूठ भी ।"[6]

जीवन की सबसे बड़ी विडंबना ही यह है कि झूठ और सच के बीच की विभाजक रेखा अत्यंत क्षीण है । संदर्भो के बदलते ही झूठ और सच की अवधारणा भी बदलने लगती है । मानवीय अनुभव का हल्का-सा संस्पर्श भी हमारी पूरी मूल्यगत चेतना को हिलाकर रख देता है । परिवार के संस्कार की महत्ता और श्रेष्ठता परंपरा-सिद्ध है । सदियों से नारी का जीवन परिवार की वेदी पर होम होता रहा है। स्वयं मिटकर भी परिवार की मर्यादा की रक्षा उसने सर्वोच्च मूल्य मानकर की है लेकिन मित्रो के माध्यम से जब परिवार के इस संस्कार और देह के संस्कार के बीच टकराहट उत्पन्न होती है तो मित्रो की जीवनगत अनुभूति की सच्चाई हमारी मूल्यचेतना को बुरी तरह झकझोर देती है । मित्रो ने जीवन का जो अर्थ समझा है, वह यह कि ------

"सोने-सी अपने देह झुर-झुरकर जला लूं या गुलजारी देवर की घरवाली की न्याई सुई-सिलाई के पीछे जान खपा लूं ? सच तो यूं जेठ जी, कि दीन-दुनिया बिसरा मैं मनुक्ख की जात से हंस-बोल लेती हूं । झूठ यूं कि ख़सम का दिया राज-पाट छोड़े मैं कोठे पर तो नहीं जा बैठी ?"[7]

मित्रो के चरित्र की ही रेखाएं उसकी सास धनवंती और मां बालो में भी दिखाई पड़ती है । दोनों की शारीरिक चेतना सजग है । धनवंती लड़ाई के समय भी अपने बेटों के लंबे कद देख अघाती नहीं ---------

"उठ बाहर आई और दरवाजे में से दोनों भाइयों को एक संग देख आंखें झुका लीं । राम-राम। ऐसी कलह में निगोड़ी ये आंखें अपने बेटों के ऊँचे-लंबें कद देख अघाती नहीं ।"[8]

इसी तरह बनवारी को अपने कमरे में जाते देख धनवंती की आंखों में कोई पुराना सपना तैर आता है । गोदी में मुन्ने को झुलाती धनंवती फिर से जवान हो उठती है ।

दूसरी ओर, बालो की नज़र में भी अपने जमाई सरदारी लाल की कद काठी अटकती है -------

"बाहर जाते सरदारीलाल का बांका-लाचा देख बालो के मन जो मरोर उठी तो मित्रो ने आंखों में ही समेट ली ।"[9]

लेकिन इनसे भिन्न मित्रो की मुखरता समय और संदर्भ नहीं जानती । धनवंती या बालो में यह चेतना बिजली की कौंध की तरह दिखाई पड़ती है लेकिन मित्रो में तो यह ऐसी लपट है जिसकी दाहकता को भीतर तक अनुभव किया जा सकता है । फिर भी, मित्रो का चरित्र केवल शरीर तक ही सीमित नहीं है । मित्रो के शरीर यदि अबुझ प्यास व्यापती है तो उसके मन में कहीं मां बनने की हौंस भी है और जैसा कि डा० विश्वनाथ त्रिपाठी ने लिखा -----

"यदि शरीर अपने से उगने वाले शरीर की भी इच्छा करे तो वह सिर्फ़ अपने शरीर की ही नहीं सोच सकता ।"[10]

वस्तुतः स्त्री का मां होना उसके व्यक्तित्व को सार्थकता देता है । जब वह मां होती है तब एक शरीर से परे, सिर्फ एक व्यक्ति होने की परिधि से भी परे ----- वह अपने में पूरे समाज की संभावना समेटे रहती है । स्त्री के मां होने पर केवल एक शरीर का ही जन्म नहीं होता बल्कि यह उस यात्रा का प्रारंभ है जो व्यक्ति से समाज की ओर जाती है । मित्रो भी जीवन की यह सार्थकता पाना चाहती है ।

यही कारण है कि 'मित्रो मरजानी' का एक महत्वपूर्ण पक्ष 'घर' से जुड़ा हुआ है । कृति के केन्द्र में 'घर' की परिभाषा ढूंढने का प्रयास भी है । घर जो बनता है रिश्तों से और संबंधों की सुरक्षा से । कृति का प्रारंभ ही गुरुदास के इस अहसास से होता है ---------

"मटमैले आकाश का एक छोटा-सा टुकड़ा रोशनदान से उतर चौकोर शीशों पर आ झुका तो नींद में बेखबर सोए गुरुदास सहसा अचकचाकर उठ बैठे । बांह बढ़ा खिड़की से चश्मा उठा आंखों पर रखा ओर चौकन्ने हो कमरे की पहचान करने लगे । वह रहा कोने में रखा अपना छाता, खूँटी पर लटका लंबा कोट, अपना ही घर है । "[11]

कमरे में रखा सामान केवल वस्तु भर नहीं है उनके साथ जैसे गुरुदास की पहचान जुड़ी है । 'अपना ही घर है' का अहसास उन्हें सुरक्षा और आत्मविश्वास से भर देता है ।

घर-परिवार का परिवेश पूरी कृति में छाया हुआ है । बेटे-बहुओं से चहकता गुरुदास-धनवंती का घर-आंगन ही उनके जीवन की सार्थकता है, तभी तो गुरुदास को लगता है -----

"घर-गृहस्ती के जंजाल में भी मनुक्ख घाटे में नहीं रहता । "

हंसते-खेलते और छोटी-छोटी आपसी टकरारों में उलझे इस परिवार में बेटी का आना तो जैसे उत्सव का आना है । 'दादी का पोता' उस घर भी खुशियां ले आया है ।

पारिवारिकता की यह उष्मा और उसके विरोध में उभरता बालो के जीवन का सूनापान । मित्रो का संबंध इन दोनों से है । इसीलिए वह जीवन के इन दोनों रूपों के अंतर्विरोधों को जीकर पारिवारिकता के सत्य को पहचानती है । उपन्यास के अंत में सरदारी के पास लौटने के निर्णय से मित्रो घर पा जाती है, अपना घर जहाँ प्राथमिकता देह की नहीं संबंधों की गहराई की है । इसे ही डा० विश्वनाथ त्रिपाठी 'आदिमता से मानवीयता' तक की यात्रा कहते हैं ।

भावना से संवलित होने पर ही काम परिष्कृत होता है । मित्रो भी कृति के अंत में इसी सत्य तक पहुँचती है लेकिन मित्रो ने यह सत्य परंपरा से ग्रहण नहीं किया उसने स्वयं जीकर यह सत्य जाना है । इस दृष्टि से सुहाग और मित्रो एक ही रेखा के दो छोर हैं । सुहाग के संस्कार वर्षो से स्वीकृत नारी जीवन के परंपरागत संस्कार है । उसने अपने लिए घर-गृहस्थी को लच्छमन की लीक मान लिया है जबकि मित्रो ने परिवार की महत्ता और सार्थकता को अपने जीवनानुभवों से जाना है । मित्रो के लिए किसी भी सत्य को स्वीकार कर लेना या ओढ़कर जीना सहज नहीं है । वह अपने जीवन को अपनी शर्तों पर जीना चाहती है । अपने सत्य स्वयं अर्जित करती है और इसके लिए एक पूरी प्रक्रिया से गुज़रती है । सुहाग जब उसे घर-गृहस्थी की रीति समझाती है तो वह उसे साफ कहती है ------

"ठोंक-पीट मुझे अपने सबक दोगी तो मैं भी मुंडी हिला लूंगी, जिठानी पर जो हौंस इस तन व्यापी है ---------"[13]

जिठानी के सबकों पर मित्रो मुंडी चाहें हिला ले लेकिन उसके सत्यों को अन्तरमन से स्वीकारना मित्रो के लिए सरल नहीं लेकिन यही मित्रो बालो के जीवन-संदर्भों में अपने सत्य का आधार खोज लेती है । बालो के जीवन का सूनापन मित्रो को कहीं भीतर तक हिला देता है ---------

"एकाएक जाने क्या हुआ कि भय के मारे मित्रो का कलेजा दहल गया । अंधेरे में मुंह बाए सूने किवाड़ों को देखा तो आंखों में कोई बिजुरिया कौंध गई । मसान-सा- सूना भायं-भायं करता घर भूतों के डेरे-सा दिखा और कलपती मां कोई भूखी-प्यासी डाकिन-सी ।"[14]

मां के इस प्रस्ताव पर कि वह अब वहीं रह जाये मित्रो चीख उठती है -------- "तू सिद्ध भैरों की चेली, अब अपनी खाली कड़ाही में मेरी और मेरे ख़सम की मछली तलेगी ? सो न होगा, बीबो कहे देती हूं । "[15]

मित्रो की यह चीख उसका विद्रोह है, बालो की उच्छृंखल जीवन-पद्धति के विरुद्ध । ठीक उसी तरह जैसे कि वह गुरुदास-धनवंती के घर में, परिवार की रुढ़ नैतिकताओं को नकार देती है । मित्रो की यह परस्पर-विरोधी जीवन-दृष्टि उसके चरित्र के संबंध में विशेष महत्व रखती है ।

इस तरह, इस पूरी कृति में मित्रो के माध्यम से नारी की जो छवि उभरती है, वह नारी के परंपरागत रूपों से बहुत भिन्न भी है और महत्वपूर्ण भी । महत्वपूर्ण इस दृष्टि से कि परंपरा को तोड़कर कोई नया व्यक्तित्व उभारने की कोशिश नहीं की गई है बल्कि यहां लेखिका ने परंपरा के छिद्रों को उघाड़कर रख दिया है । मित्रो बहू ,भाभी, पत्नी बेटी सब कुछ है लेकिन उसका व्यक्तित्व इन परंपराबद्ध रूपों में जैसे समा ही नहीं सकता । नारी जीवन की महानता के नाम पर परंपराओं और नैतिकताओं का जो 'छद्म' नारी पर लाद दिया जाता है मित्रो उसके विरोध में खड़ी होती है और उसका विरोध केवल नारा भर नहीं बल्कि वह उस जीवन-पद्धति के बीच रहते हुए, उसे अस्वीकार कर देती है, उसके खोखलेपन को उभारकर पूरी परंपरा को मुंह चिढ़ाती है और जीवन के विभिन्न पक्षों को सहज भाव से जीते हुए अपने होने के अधिकार को जताती है । अपने चरित्र में अनेक अंतर्विरोधों को समेटे हुए भी मित्रो हिंदी साहित्य में अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाती है ।

संदर्भ

१. कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, पृ. १७

२. वही, पृ. ४०

३. डा. विश्वनाथ त्रिपाठी - कालबोध की छाया में आदिम कुंठाहीनता - (सं.) दिविक रमेश, हिंदी कहानी का समकालीन परिवेश, पृ. १४

४. कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, पृ. ६१

५. कृष्णा सोबती, मित्रो, जो मरजानी हुई - सं. शानी - समकालीन भारतीय साहित्य, अंक ४३, १८३-१८४

६. कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, पृ, ३४

७. वही, पृ. ३५

८. वही, पृ. १३

९. वही, पृ. ८७

१०. डा० विश्वनाथ त्रिपाठी - कालबोध की छाया में आदिम कुंठाहीनता-(सं) दिविक रमेश-हिंदी कहानी का समकालीन परिवेश, पृ. २४

११. कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, पृ. ७

१२. वही, पृ. ३६

१३. वही, पृ. १६

१४. वही, पृ. ६४

१५. वही, पृ. ६४

सहायक पुस्तकें

- कृष्णा सोबती, *मित्रो मरजानी,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, १६८६
- कृष्णा सोबती, *सोबती, एक सोहबत,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण १६८६
- दिविक रमेश (प्रधान संपादक)-*हिंदी कहानी का समकालीन परिवेश,* विक्रान्त प्रेस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १६८०
- घनश्याम 'मधुप' - *हिंदी लघु उपन्यास,* राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, १६७१
- सरिता कुमार, *महिला कथाकारों की रचनाओं में प्रेम का स्वरूप,* राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १६८१

पत्र-पत्रिकाएं

- *समकालीन भारतीय साहित्य,* संपादक शानी, अंक ४३, जनवरी-मार्च १६६१